नामकरण संस्कार विमर्श

विद्यावारिधि आचार्य दीनदयाल मणि त्रिपाठी

एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्

इस विधान के अनुसार ग्यारहवें दिन पिता पुत्र का नामकरण संस्कार करता है। सूतक से शुद्ध हो जानेपर पत्नी-सहित पिता तिथि-वार-नक्षत्र आदि का संकीर्तन कर सकल्प करता है-**अमुकनक्षत्रे अमुकराशी जातस्यास्य कुमारस्य नाम सन्धास्यावः ।**

नामकरण मे पत्नी का भी अधिकार है, अत एव **'सन्धास्यावः'** बोला जाता है। नामकरण संस्कार में पिता का ही कर्तृत्व है किन्तु माता भी पुकारने का नाम रखती है । अतः कुछ प्रान्तों में दोनों को मानकर **'सन्धास्यावः'** द्विवचन का प्रयोग करते है। पारस्कराचार्य 'पिता नामकरोति' कहकर पिता का ही अधिकार बतलाते है- **अतः 'नामकरणसंस्कारेण संस्करिष्यामि'** संकल्प होता है। ग्यारहवें दिन बच्चे के साथ माता-पिता स्नान आदि से शुद्ध होकर धौतवस्त्र का परिधान कर एवं परम्परागत तिलक को ललाट मे लगाकर विनायक-पूजन, पुण्याहवाचन अऔर पुण्याहजल से घर का प्रोक्षण करके माता की गोद में लेटे हुए बच्चे के दाहिने कान में नाम सुनाते है। दो अक्षर या चार अक्षर का नाम होना चाहिए । उन अक्षरों में ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य र ल व ह नाम के आद्याक्षर हों और य र ल व ये मध्य मे हों तथा नाम दीर्घान्त हो एवं

कृत्प्रत्ययान्त हो, तद्धितान्त न हो, यह क्रम है। अथवा बच्चे के पितामह आदि का नाम हो ।

घोषवदक्षर आदि मे अन्तस्थ मध्य मे कृत्प्रत्यय और गुरु अन्त मे रखने के नियम का तात्पर्य है कि पूर्व अक्षरों के वायु-अग्नि-भूमि-इन्दु और सूर्य देवताएँ दिखलायी गयी है। निर्दिष्ट अक्षरों में पाँचो देवताएँ मिल जाती है और चार जातियों का भी सग्रह हो जाता है। यह नामकरण संस्कार परम्परागत एकता का द्योतक सिद्ध होता है। वायु- अग्नि-भूमि-चन्द्रमा और सूर्य के प्रति भौतिक बुद्धि रखकर विचार करें या देवता-बुद्धि रखकर; उभयथा परिणाम एक ही निकलेगा। क्योंकि इन पाँचों को न माननेवाला एक भी जगत् में नहीं मिलेगा। किन्तु सन्देह होगा कि इन अक्षरों में वे हैं या नही । ऋषियों ने अपने विज्ञान से वायु आदि को परिगणित किया है, उसका कुछ मूल होना चाहिए। वह मूल हमे प्रत्यक्ष नहीं है, अन्वेषण का विषय है। जैसा कि कहा जा चुका है कि हमारी परम्परा है, मानकर चलना है।

ये पाँचों मात्र ब्राह्मण के नही किन्तु सभी वर्गों के है। ऐसी अवस्था मे 'ब्राह्मणों का यह जाल है' कहकर इस परम्परा को उदासीन या हेय-दृष्टि से देखना उचित नही । एकाक्षर कोश-ग्रन्थों के अध्ययन से इसका मूल मिल भी सकता है। वैदिक और तांत्रिक, श्रौत और स्मार्त कर्मकाण्डों में पदार्थ प्रायः मिले-जुले रहते है। व्यवहार के लिए वैदिक, तान्त्रिक, श्रोत, स्मार्त आदि सझाएँ चली हैं। इनका मूल एक है। परवर्ती लोग अपना

व्यवसाय बनाकर रखने लगे तो साधारण जनता का विश्वास घट गया। इस प्रकार यह तो पुरुषों का दोष है, ऋषियों का मूल तो निर्दुष्ट है। विधि के अनुसार जिस बच्चे का हम नामकरण संस्कार करते है वह बच्चा संस्कृत होता ही है, श्रेयःप्राप्ति का भागी बनता ही है, इसके अलावा उसको उस नाम से पुकारने वाले भी श्रेयोभागी बनते है। हम किसी बच्चे का **'गिरिधारी'** नाम रखते है तो इस नाम में **गइ ई ध् आ र ई** इतने वर्ण है। इनमे 'अ' वायु है, 'इ' अग्नि है, 'ध' चन्द्रमा है, 'ग' भूमि है। इस नाम मे चार तत्त्व मिले हुए है। गिरिधारी शब्द कृष्ण का वाचक है। हमारी परम्परा मे नाम-पारायण एवं जप का अति माहात्म्य है। स्वयं बच्चा इस नाम से मिला हुआ है एवं पुकारने वाले भगवन्नामोच्चारण के फलभागी बनते हैं। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि बच्चे की अवस्था का जीवन्मुक्त की अवस्था से तुलना करें।

जीवन्मुक्त की अवस्था

देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा,
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।

है। यही अवस्था बच्चे की भी है। जीवन्मुक्त पर-ब्रह्मस्वरूप है और वही परब्रह्म बच्चा भी है। हम मायिक जगत् मे परब्रह्म को नाम-रूप देकर व्यवहार करते है। मायिक जगत् मे बच्चा उत्पन्न होनेपर भी कुछ काल तक माया से अनभिभूत रहता है। हम अभिभावक धीरे-धीरे उस बच्चे को मायिक जगन में लाते है । नामकरण संस्कार में जो नाम रक्खा गया है,

उसके अर्थ को समझकर उसका अनुसन्धान कर सकता है। अनुसन्धान की प्रवृत्ति न होने पर भी योग्यता रखता है। वह योग्यता माता-पिता एवं शिक्षक के द्वारा उत्पन्न करायी जाती है। इतना फल है नामकरण संस्कार का।

जीवन्मुक्त की अवस्था तक पहुँचने के लिए ऋषियो ने विविध संस्कारों को प्रवर्तित किया। यदि हम इन संस्कारों से अथवा इन सस्कारों के प्रतिनिधि रूप से विहित क्रिया-कलापों से वञ्चित रहेगे तो लक्ष्य को प्राप्त करना सभव नहीं होगा। नाम के अन्त मे शर्मा, वर्मा, गुप्त आदि जोड़ा जाता है किन्तु इसे जोड़ने मे उच्च-नीच भाव पूर्वजों का नही था। सभी समान अर्थ वाले हैं किन्तु अवस्था-विशेष के परिचायक है। पहले कहा जा चुका है कि समानता-सामान्य विशेष को छोड़कर नही रह सकती। हम जिस बच्चे को प्रथम अवस्था मे जैसा देखते थे, वह सर्वत्र समान है किन्तु व्यवहार में आनेपर समानता को विशेष मे बदलना पड़ता है। यही व्यावहारिक जगत् है। इसे परिवर्तित करने की चेष्टा नही करनी चाहिए, यही परम्परा है। परम्परा के साथ चलता हुआ मानव देश और काल के प्रभाव से स्वयं परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तन का उद्यम नहीं करना चाहिए। यदि अपने-आप परिवर्तन आ जाता हो तो उसमें परम्परा नही कटेगी किन्तु हमारे पौरुष से यदि परिवर्तन आयेगा तो परम्परा कट जायगी।

अत एव यथासमय बच्चे को चन्द्रदर्शन, सूर्यदर्शन एवं देवता-देवियों के दर्शन कराते हुए निष्क्रमणिका के रूप में मन्त्रसहित संस्कार करते है। जो

बच्चा अपने स्वरूप में मग्न रहा उसे बाहरी जगत् का परिचय कराकर व्यावहारिक बनाते है। बच्चे का पिता ग्रामान्तर मे जाकर पुनः घर लौटते ही पुत्र को देखकर इस मन्त्र को जपता है-

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।

आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।।

हे पुत्र! तुम हमारे अङ्ग से उत्पन्न हो, हृदय-अन्तरङ्ग से भी अधिजायसे-अधिकरूप में उत्पन्न हो । अतः तुम निश्चित ही मेरे पुत्र हो, सौ वर्ष तक जीवित रहो। इतना कहकर बच्चे की मूर्धा को सूघता है। उसके लिए यह मन्त्र है-

प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम्

अर्थात् हे पुत्र | प्रजापति-ब्रह्मा जी के हिंकार-सामवेद से या स्नेहभरित शब्द से तुम्हे सूँघता हूँ। हे असौ-अमुक नामवाले पुत्र ! तुम सौ वर्ष तक जीवित रहो । इसी मन्त्र में 'प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेण' के स्थान पर 'गवां त्वा हिंकारेण' रखकर तीन बार जप करके दाहिने कान मे-

अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्ररायो विश्ववारस्य भूरेः ।

अस्मे ँ् शरदो जीवसे धा अस्मै वीरान् शश्वत इन्द्र शिप्रिन् ।

इस मन्त्र को जपना चाहिए। इसका अर्थ है- हे मघवन् !-इन्द्र तुम ऋजीषिन्-पिघले हुए चित्तवाले हो। हे इन्द्र ! तुम **शिप्रिन्**-सुख देनेवाले हो । **अस्मे-** इस कुमार को, **रायः**-ऐश्वर्ययुक्त धनधान्य इस प्रकार का हो जो

प्रचुर और सभी लोगों के द्वारा वरणीय हो, उसको **प्रयन्धि**-दो। **अस्मे**-इस कुमार के **जीवसे**-जीवन के लिए और शाश्वत

वीरान्-पुत्र-पौत्र आदि को **धाः**-दो।

इसी प्रकार बायें कान मे इस मन्त्र का जप करना चाहिए-

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चितिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मै ।

पोषप्रयीणामरिष्टिं तनूना स्वात्मानं वाचः सुदिनत्वमन्हाम्।

अर्थात्-हे **इन्द्र** ! परमेश्वर ! **अस्मे-**इस बच्चे को सर्वश्रेष्ठ सुमङ्गल धन का वितरण करो, एवं **चित्ति**-ज्ञान को **तनूनामरिष्टिम्**-शारीरिक नीरोगता प्रजापति के सर्वतोमुख सौभाग्य का वितरण करो। **रयीणाम्**-धन की **पोषं**-पुष्टि, **वाचः**-वागिन्द्रिय का **स्वात्मानम्**- माधुर्य, अन्हां **सुदिनत्वम्**-साफल्य का वितरण करो।

इस सन्दर्भ से यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि पिता-पुत्र का सम्बन्ध ओर मानव-जीवन में वेद का सम्बन्ध किस प्रकार है। आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक उन्नति की कामनाओं द्वारा बच्चे के कानों में पिता मन्त्रों को जपता हुआ उसे दैविक सम्पदा से पुष्ट करता है । यद्यपि बालक इन बातों को समझने में समर्थ नही है तो भी पिता मन्त्रों की शक्ति से परिचित होकर ही मन्त्रों को सुनाता है।

सूत्रग्रन्थों के निर्माता स्वयं अनुभव करके ही इस परम्परा को प्रवर्तित किये है। कौन ऐसा पिता होगा जो अपने पुत्र को सर्वाङ्गीण सम्पन्न नहीं

देखना चाहेगा । परम्परागत इस पद्धति का आश्रय लेकर पिता अपने पिता के विषय में अत्यधिक श्रद्धा क्यों नहीं रखेगा ? यह नैतिक उन्नति का आदर्श है।